व्रती श्रावक

की ग्यारह प्रतिमाएं

-नेमीचन्द पाटनी

अपनी बात

इस पुस्तिका को लिखने योग्य ज्ञान के प्रदाता तो प्रातः स्मरणीय, परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी हैं, उनका उपकार तो यह आत्मा भवान्तर में भी नहीं भूल सकेगा। सन् 1971 में जब इस पुस्तिका की पाण्डुलिपी तैयार हुई तो आगम के आलोक में इसको जाँचने के लिए मैंने वह पाण्डुलिपी मेरे सहयोगी मित्र पण्डितप्रवर भाईश्री हिम्मतलाल जेठालाल शाह सोनगढ़ को सौंपी। पण्डितजी से पूरी मुमुक्षु समाज भलीभांति परिचित है; उनके द्वारा पाँचों परमागमों की गुजराती टीकाएँ हुई हैं। मुझे हर्ष है कि उनने प्रसन्नता के साथ जांचा ही नहीं वरन् आगम प्रमाणों द्वारा उसको प्रामाणिक बना दिया, अतः मैं उनका आभार मानता हूँ।

पुस्तिका तैयार होने के पश्चात् इसके कई संस्करण सोनगढ़, जयपुर आदि स्थानों से प्रकाशित हो चुके हैं। अभी कुछ वर्षों से यह अप्राप्य थी। अतः अब यह संशोधन होकर नवीन संस्करण के रूप में पाठकों के समक्ष पठन-मनन हेतु प्रस्तुत है। आशा है पाठकगण इसका अध्ययन कर योग्य लाभ प्राप्त करेंगे।

– *नेमीचन्द पाटनी*

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

01. श्री शान्तिनाथजी सोनाज, अकलूज	251.00
02. श्री बाबूलाल तोतारामजी जैन, भुसावल	251.00
03. श्रीमती श्रीकान्ताबाई ध.प. श्री पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर	251.00
04. श्रीमती पतासीदेवी इन्द्रचन्दजी पाटनी, लॉडनू	201.00
05. श्रीमती भंवरीदेवी स्व. श्री घीसालालजी छाबड़ा, सीकरवाले	201.00
06. श्रीमती ममतादेवी अजितकुमारजी जैन, भीलवाड़ा	111.00
07. चौधरी फूलचन्द जैन चै.ट्रस्ट, मुम्बई	111.00
08. श्रीमती पानादेवी मोहनलालजी सेठी, गोहाटी	101.00
09. स्व. शान्तिदेवी माणकचन्दजी पाटनी, गोहाटी	101.00
10. श्रीमती गुलाबीदेवी लक्ष्मीनारायणजी रारा, शिवसागर	101.00
कुल राशि	1680.00

व्रती श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ

आचार्य उमास्वामी का वाक्य है – 'सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्रणि मोक्षमार्गः' – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन प्राप्त जीव की श्रद्धा (प्रतीति) तो सम्यक् हो गई, तद्नुसार ज्ञान भी सम्यक् हो गया तथा अनन्तानुबन्धी के अभावात्मक स्वरूप में आंशिक स्थिरता प्रगट हो जाने से मोक्षमार्ग का आरंभ भी हो गया किन्तु मात्र उतनी ही स्वरूपस्थिरता चारित्र–संज्ञा प्राप्त नहीं करती, इस कारण उस जीव को चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अव्रतीश्रावक कहा गया है।

उपरोक्त चतुर्थ गुणस्थानवर्ती श्रावक जब अप्रत्याख्या–नावरणी कषाय के तारतम्यतापूर्वक अभावात्मक पुरुषार्थ द्वारा स्वरूप–स्थिरता (लीनता) बढ़ाकर पंचम गुणस्थान प्राप्त करता है। वह स्वरूप–स्थिरता ही देश–चारित्र है और वहीं पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक है। इसप्रकार जो स्वरूप–स्थिरता (वीतरागता) की वृद्धि होती है और रागांश घटते हैं उसे निश्चय प्रतिमा (निश्चय देश–चारित्र) कहते हैं। उस यथोचित स्वरूप–स्थिरतारूप निश्चय प्रतिमा के साथ जो कषाय मंदतारूप भाव रहते हैं वह व्यवहार प्रतिमा अर्थात् व्यवहार देश–चारित्र है। उसके साथ ही तदनुकूल बाह्य प्रवृत्ति होती है, वह यथार्थ में तो व्यवहार प्रतिमा भी नहीं है लेकिन

उपरोक्त कषाय मंदता के साथ तदनुकूल ही निमित्त–नैमित्तिक संबंध होने से बाह्य प्रवृत्ति भी होती है, अतः उसको भी व्यवहार से प्रतिमा कहा जाता है।

निज त्रिकाल ज्ञायक स्वभाव के अनुभव एवं लीनता बिना अकेली कषायों की मंदता व तदनुकूल बाह्य क्रिया प्रतिमा नहीं है, अतः जिसको निश्चय प्रतिमा अर्थात् पंचम गुणस्थानवर्ती स्वरूप स्थिरता नहीं हो उसको यथार्थ प्रतिमा नहीं हो सकती।

सम्यग्दर्शनपूर्वक आत्मा के ज्ञायक स्वरूप में पंचम गुण–स्थान योग्य स्थिरता ही यथार्थ देश–चारित्र है और वही निश्चय से प्रतिमा है और वह आत्मानुभव के बिना संभव नहीं है।

अनुभव प्रकाश में पण्डित दीपचन्दजी कासलीवाल अनुभव का वर्णन इसप्रकार करते हैं – "स्वानुभव होते ही निर्विकल्प सम्यक्त उपजै, उसे स्वानुभव कहौ, वाकौ ही निर्विकल्प दशा कहौ, वा आत्मसन्मुख उपयोग कहौ.....। तथापि एक स्वस्वादरूप अनुभवदशा मुख्य नाम जानना। जो सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थान का है तिसकैं तो स्वानुभव का काल लघु अंतर्मुहूर्त तांई रहै है, फिर स्वानुभव बहुत काल पीछै होइ है, तिसतैं अविरत सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा देशव्रती का स्वानुभव रहने का काल बड़ा है, अरु स्वानुभव थोरे ही काल पीछें होई है, सर्वविरति के स्वानुभव दीर्घ अन्तमुंहूर्त तांई रहै है, अति थोरे–थोरे काल पीछें स्वानुभव हुआ ही करै बारम्बार है।"

अविरत सम्यग्दृष्टि (चतुर्थ गुणस्थानवर्ती) श्रावक का स्वरूप पण्डित बनारसीदास जी ने इसप्रकार लिखा है –

"सत्य प्रतीति अवस्था जाकी, दिन-दिन रीत गहै समता की।
छिन-छिन करै सत्य को साकौ, समकित नाम कहावै ताको।।"[१]

जिसकी प्रतीति (श्रद्धा) में आत्मा का सही स्वरूप आ गया हो, जिसको सत्य स्वरूप की प्रसिद्धि क्षण–क्षण बढ़ रही हो व दिन प्रतिदिन समताभाव वृद्धिंगत हो रहा हो वह अविरत सम्यग्दृष्टि है।

उपरोक्त अनुभूति की नित्य वृद्धिंगत होते हुए अप्रत्याख्यानावरणी कषाय के अभावरूप अवस्था ही पंचम गुणस्थान है।

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती श्रावक को अपने आत्मा के आनन्द का साक्षात् निर्विकल्प अनुभव तो हो गया हो लेकिन लीन होने का पुरुषार्थ मन्द होने से वह अनुभव जल्दी–जल्दी नहीं आता एवं बहुत थोड़े काल ही ठहरता है तथा इस अवस्था में परिणति में शुद्धता प्रारम्भ हो जाने पर भी अव्रत के भाव ही रहते हैं, व्रत परिणाम नहीं हो पाते; किन्तु पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक ने स्वरूप रमणता के तीव्र पुरुषार्थ द्वारा अप्रत्याख्यानरूपी अचारित्रभाव अर्थात् तत्संबंधी कषायों का अभाव कर देने से, अनुभव भी जल्दी–जल्दी आने लगता है एवं स्थिरता का काल भी बढ़ जाता है तथा परिणति में वीतरागता भी बढ़ जाती है। यही कारण है कि उस साधक

---

१. नाटक समयसार : बनारसीदास, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छंद २७

जीव की संसार, देह एवं भोगों के प्रति सहज ही आसक्ति कम होने लगती है और उनके प्रति सहज उदासीनता आ जाती है। उसे उस भूमिका के अयोग्य अशुभ भावों को छोड़ने की प्रतिज्ञा लेने का भाव होता है और सहज ही (बिना हठ के) साथ ही बाह्य आचरण में भी तदनुकूल परिवर्तन हो जाते हैं। कहा भी है –

संयम अंश जग्यो जहाँ, भोग अरुचि परिणाम।
उदय प्रतिज्ञा को भयो, प्रतिमा ताकौ नाम।।[1]

उपरोक्त दशा प्राप्त साधक की अन्तरंग व बाह्य दशा किस–किस प्रतिमा में कितनी–कितनी बढ़ती जाती है, आचार्यों ने उसी को ११ श्रेणियों (प्रतिमाओं) में विभाजित करके समझाया है। एवं अन्तरंग शुद्ध दशा को ज्ञानधारा व साथ रहने वाले शुभाशुभ भावों को कर्मधारा के द्वारा समझाया है।

साधक जीव तो अपने स्वरूप–स्थिरता की वृद्धि का पुरुषार्थ करता है। उसके अनुसार उसको वीतरागता की वृद्धि होती जाती है और साथ ही जो रागांश विद्यमान रहते भी हैं, तदनुकूल बाह्य क्रियायें होती हैं, उन्हें व्यवहार चारित्र कहा जाता है।

इसप्रकार के चरणानुयोग के कथन से साधक जीव अपनी भूमिका को समझकर अपने अन्दर उठने वाले राग अर्थात् विकल्पों को पहिचानकर स्वरूप–स्थिरता को माप लेता है। जिस भूमिका (प्रतिमा) में जिन विकल्पों (राग भावों)

---

१. नाटक समयसार : बनारसीदास, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छंद ५८

का सद्भाव संभव है उसप्रकार के राग के सद्भाव को देखकर विचलित (आंशकित) नहीं होता वरन् उनका अभाव करने के लिए स्वरूप–स्थिरता बढ़ाने का पुरुषार्थ करता रहता है, साथ ही चरणानुयोग में विहित उस भूमिका में दोष उत्पन्न करने वाला रागांश अंतर में उठता है उसे जानकर ऐसा समझ लेता है कि अंतरंग स्थिरता में शिथिलता आ जाने से इसप्रकार का राग उत्पन्न हुआ है। ऐसे शिथिलताजन्य विकल्प ही उन व्रतों के अतिचार हैं, उनको स्वरूप–स्थिरता बढ़ाकर दूर करने का यत्न करता है। इसी को लक्ष्य करके आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है –'ऐसा व्यवहार नय विचित्र (अनेक) वर्णमाला समान होने से जाना हुआ उस काल प्रयोजनवान है।'[१]

जो जीव चरणानुयोग के सही स्वरूप को समझते नहीं, स्वरूपानन्द के निर्विकल्प अनुभव की बात को जानते नहीं, पहिचानते नहीं, मात्र व्यवहार चारित्र के नाम से शास्त्रों में वर्णित बाह्य उदासीनतारूप मंद कषाय एवं तदनुकूल बाह्य क्रियाओं को ही प्रतिमाओं का स्वरूप मानकर व आचरण कर अपने आपको पंचम गुणस्थानवर्ती प्रतिमाधारी श्रावक मान लेते हैं, उन जीवों की श्रद्धान में विपरीतता के कारण मिथ्यात्व तो बना ही रहता है, तथा साथ ही आत्मानुभव की प्राप्ति के पुरुषार्थ करने का अवकाश भी नहीं रहता।

किसी मिथ्यादृष्टि जीव को स्वरूप की यथार्थ श्रद्धा, ज्ञान व रमणता तो नहीं हो और मात्र कषाय की मंदता एवं

१. समयसार टीका : आ. अमृतचन्द्र, गाथा १२

तदनुकूल बाहर की क्रियायें हों ऐसा तो संभव है। लेकिन ऐसा संभव नहीं हो सकता कि उस मिथ्यादृष्टि जीव को स्वरूपानन्द की अनुभूति, उस–उस प्रतिमा के अनुकूल हो जावे और उसको उस–उस प्रतिमा में निषिद्ध विकल्प अंदर में उठते रहें तथा निषिद्ध बाह्य क्रियायें भी होती रहें। ऐसी ही आत्मानुभूति रूप निश्चय चारित्र एवं व्यवहार चारित्ररूप प्रतिमा की स्वाभाविक संधि है।

कोई निश्चयाभासी जीव आत्मानुभूति के बिना ही ऐसा मान लेवे कि उपरोक्त जाति के राग (विकल्प) उठते हुये भी मेरे को उठते नहीं है लेकिन उस भूमिका में निषिद्ध बाहर की क्रियायें होती रहती हैं क्योंकि आत्मा अन्य द्रव्य की क्रियाओं का करने वाला नहीं है तो ऐसा मानना विपरीत है क्योंकि रागभाव के सद्भाव के बिना राग सम्बन्धी क्रियायें नहीं हो सकतीं – ऐसा ही निमित्त–नैमित्तक सम्बन्ध है व नियम है। इसलिए चरणानुयोग में बाहर की क्रियाओं के साथ ही नियम से उस सम्बन्धी राग छोड़ने का उपदेश दिया जाता है

उपरोक्त साधक जीव की प्रत्येक प्रतिमा का संक्षेप में वर्णन इसप्रकार है।

१. दर्शन प्रतिमा

आठ मूलगुण संग्रहै, कुव्यसन क्रिया न होय।
दर्शनगुण निर्मल करै, दर्शन प्रतिमा सोय।।[१]

अन्तर्मुख शुद्धपरिणतिपूर्वक निश्चय प्रतिमा के साथ

१. नाटक समयसार : बनारसीदास, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छंद ५६

कषाय मंदता से अष्ट मूलगुण धारण एवं सप्त व्यसन त्यागरूप भावों का सहज (हठ बिना) होना ही दर्शन प्रतिमा है। मद्य, मांस, मधु और पांच उदुम्बर[1] फल खाने का राग उत्पन्न नहीं होना अर्थात् इन वस्तुओं का त्याग करना अष्ट मूलगुण धारण है। जुआ खेलना, मांस खाना, मदिरापान, वेश्यागमन, शिकार करना, चोरी करना, परस्त्री रमणता ये सात व्यसन हैं। इनका त्याग ही सप्त व्यसन त्याग है। निरतिचार सम्यग्दर्शन का होना ही दर्शनगुण की निर्मलता है। सम्यक्तपूर्वक भूमिका योग्य शुद्ध परिणति निश्चय दर्शन प्रतिमा है तथा उसके साथ सहज (हठ बिना) होने वाला कषाय मंदतारूप भाव व बाह्याचार व्यवहार दर्शन प्रतिमा है।

चतुर्थ गुणस्थान अपेक्षा पंचम की पहली प्रतिमा धारी को सम्यग्दर्शन सम्पन्न होते हुये किंचित आत्मलीनता बढ़ जाती है, फलतः उसको निर्विकल्पदशा भी शीघ्र आने लगती है, प्रगाढ़ता भी बढ़ जाती है एवं प्रतिज्ञा लेने का भाव भी होने लगता है।

आचार्य समन्तभद्र[2] के अनुसार दर्शन प्रतिमा में पांच अणुव्रत भी आ जाते हैं। उक्त प्रकरण को पण्डित जयचंदजी छाबड़ा ने इसप्रकार स्पष्ट किया है –

'कोई ग्रन्थ में ऐसे कहया है जो पांच अणुव्रत पालै अर मद्य, मांस, मधु इनका त्याग करै, ऐसे आठ मूलगुण हैं सो यामें विरोध नाहीं है, विवक्षा भेद है। पांच उदुम्बर फल

१. बड़फल, पीपलफल, ऊमर, पाकरफल, कठूमर (गूलर)
२. रत्नकरण्ड श्रावकाचार : आ. समन्तभद्र, श्लोक ६६

अर तीन मकार का त्याग करने तैं जिन वस्तुनि में साक्षात् त्रस दीखें ते सर्व ही वस्तु भक्षण नहीं करै, देवादिक निमित्त तथा औषधादिक निमित्त इत्यादि कारणतें दीखता त्रस जीवनि का घात न करै, ऐसा आशय है सो यामें तो अहिंसाणुव्रत आया अर सात व्यसन के त्याग में झूठ का, अर चोरी का, अर परस्त्री का ग्रहण नाहीं। यामें अति लोभ का त्यागतें परिग्रह का घटावना आया, ऐसे पांच अणुव्रत आवें हैं। इनके अतिचार टलै नाहीं तातैं अणुव्रती नाम न पावै। ऐसें दर्शन प्रतिमा का धारक भी अणुव्रती है, तातैं देशविरतसागार संयमाचरण चारित्र में याकै भी गिन्या है।'[१]

२. व्रत प्रतिमा

पांच अणुव्रत आदरै, तीन गुणव्रत पाल।
शिक्षाव्रत चारों धरै, यह व्रत प्रतिमा चाल।।[२]

पहली प्रतिमा में प्राप्त वीतरागता एवं शुद्धि को दूसरी प्रतिमाधारी श्रावक बढ़ाता रहता है फलतः उसको व्रत प्रतिमा में निषिद्ध रागभाव नहीं होते इसलिए उनके त्याग की प्रतिज्ञा करता है। इस प्रतिमा के योग्य शुद्ध परिणति वह निश्चय प्रतिमा है व बारह देशव्रत के कषाय मंदतारूप भाव व्यवहार प्रतिमा है। बारह व्रत इसप्रकार हैं –

पाँच अणुव्रत – हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, और परिग्रह–इन पांचों पापों का एकदेश त्याग करना पांच अणुव्रत है। इन पांच अणुव्रतों का स्वरूप कुन्दकुन्दाचार्य ने इसप्रकार

१. अष्टपाहुड़ टीका : पं. जयचंदजी, चारित्रपाहुड, गाथा २३
२. नाटक समयसार : बनारसीदास, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छंद ६०

व्यक्त किया है –

'थूल त्रसकाय का घात, थूल मृषा अर्थात् असत्य, थूल अदत्ता अर्थात् परका बिना दिया धन, पर महिला अर्थात् परस्त्री इनका तो परिहार अर्थात् त्याग और परिग्रह तथा आरम्भ का परिमाण इस प्रकार पांच अणुव्रत हैं।[१]

तीन गुणव्रत – दिग्व्रत, भोगोपभोग परिमाणव्रत, अनर्थदण्डव्रत – ये तीन गुणव्रत हैं।[२]

दिग्व्रत – परिणमित दिशाओं से आगे नहीं जाने का परिमाण कर लेना दिग्व्रत कहलाता है।[३]

भोगोपभोग परिमाणव्रत – जो वस्तु एक बार भोगने में आवे उसे भोग कहते हैं, जैसे – भोजन आदि। जो वस्तु बार–बार भोगने में आवे उसे उपभोग कहते हैं, जैसे – मकान आदि। भोग और उपभोग की वस्तुओं का परिमाण करना भोगोपभोग परिमाणव्रत है।[४]

अनर्थदण्डव्रत – बिना प्रयोजन दिग्व्रत की सीमा के अन्दर भी मन, वचन, काय की प्रवृत्ति नहीं करना अनर्थदण्डव्रत है।[५]

शिक्षाव्रत – व्यवहार से आगे–आगे की प्रतिमाओं में विशेष आसक्ति घटाने के लिए शिक्षारूप (अभ्यासरूप) होने

---

१. चारित्रपाहुड़, गाथा २४

२. यह व्याख्या चारित्रपाहुड़ गाथा २५ एवं रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक ६७ के आधार पर है।

३. रत्नकरण्ड श्रावकाचार : आ. समन्तभद्र, श्लोक ६८

४. वही, श्लोक ८२ ५. वही श्लोक ७४

से इन व्रतों को शिक्षाव्रत कहा है। शिक्षाव्रत ४ होते हैं –देशव्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्व (अतिथि संविभाग)।[१]

देशव्रत[२] – दिग्व्रत की सीमा के अंदर निश्चत किए गये स्थानों में आने–जाने में और भी कमी कर देना देशव्रत शिक्षाव्रत है।

सामायिक – तीसरी प्रतिमा के योग्य सामायिक का अभ्यास करना सामायिक नामक शिक्षाव्रत है।

प्रोषधोपवास – चौथी प्रतिमा के योग्य प्रोषधोपवास करने का अभ्यास करना प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत है।

वैयावृत्य - (अतिथि संविभाग) – मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका आदि धर्मात्माओं को यथायोग्य विधिपूर्वक देने योग्य वस्तुएँ देना एवं यथायोग्य सेवा करना वैयावृत्य या अतिथि संविभाग नामक शिक्षाव्रत है।

ये बारह व्रत पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक को निरतिचार एवं निःशल्य[३] रूप से होते हैं।

३. सामायिक प्रतिमा

द्रव्य भाव विधि संजुगत, हिये प्रतिज्ञा टेक।
तजि ममता समता गहै, अन्तर्मुहूरत एक।।
जो अरि मित्र समान विचारै, आरत रौद्र कुध्यान निवारै।
संयम सहित भावना भावै, सो सामायिकवंत कहावै।।[४]

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार : आ. समन्तभद्र, श्लोक ६१
२. चारित्रपाहुड़, गाथा २६ में देशव्रत के स्थान पर सल्लेखनाव्रत लिखा है।
३. शल्य तीन होते हैं – माया, मिथ्या, निदान
४. नाटक समयसार : बनारसीदास, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार छंद ६१–६२

जो दूसरी प्रमिमा की अपेक्षा आत्मा में विशेष लीनता बढ़ जाने के कारण दिवस में ३ बार एक अन्तर्मुहूर्त[1] तक प्रतिज्ञापूर्वक सर्व सावद्ययोग का त्याग करके शास्त्र विहित द्रव्य व भाव सहित अपने ज्ञायक स्वभाव के आश्रयपूर्वक ममता को त्यागकर समता धारण करे अर्थात् समता का अभ्यास करे, शत्रु और मित्र दोनों को समान विचारे, आर्त व रौद्र ध्यान का अभाव करे तथा अपने परिणामों को आत्मा में संयमन करने का अभ्यास करे, वह तीसरी सामायिक प्रतिमाधारी श्रावक है। इस प्रतिमाधारी श्रावक की आत्मानन्द में लीनता (शुद्ध परिणति) बढ़ जाने के कारण दूसरी प्रतिमा की अपेक्षा बाह्य में आसक्ति भाव कम हो जाते हैं।

मात्र अन्तर्मुहूर्त एकान्त में बैठकर पाठ पढ़ लेने आदि से सामायिक नहीं हो जाती है, वरन् ऊपर लिखे अनुसार ज्ञायक स्वभाव की रुचि एवं लीनतापूर्वक साम्य भाव का अभ्यास करना ही सच्ची सामायिक है।

४. प्रोषधोपवास प्रतिमा

प्रथमहिं सामायिक दशा, चार पहर लों होय।
अथवा आठ पहर रहे, प्रोषध प्रतिमा सोय।। ६३।।[2]

जब सामायिक की दशा कम से कम ४ प्रहर तक अर्थात् १२ घंटे तक तथा विशेष में ८ प्रहर अर्थात् २४ घंटे तक रहे, उसको प्रोषध प्रतिमा कहते हैं। प्रोषध प्रतिमाधारी श्रावक ज्ञायक स्वभाव में श्रद्धा, ज्ञानपूर्वक लीनता, पूर्वापेक्षा

१. १ अन्तर्मुहूर्त ४८ मिनिट से कम का होता है।
२. नाटक समयसार : बनारसीदास, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छन्द ६३

बढ़ जाने से कम से कम मास में ४ बार हर अष्टमी व चतुर्दशी को आहार आदि सर्व सावद्य योग का त्याग करता है। उसे संसार, शरीर और भोगों से आसक्ति घट जाती है, अतः आहार आदि का त्याग करके उपवास की प्रतिज्ञा लेता है, वह प्रोषध प्रतिमाधारी श्रावक है।

मास में ४ बार उपवास कर लेने मात्र से ही चौथी प्रतिमा धारक श्रावक नहीं हो जाता तथा केवल भोजन नहीं करने का नाम उपवास नहीं है।

कषायविषयाहारो, त्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः।।

अर्थात् कषाय, विषय, आहार तीनों का त्याग हो वह उपवास है, शेष सब लंघन है।[1]

५. सचित्तत्याग प्रतिमा

जो सचित्त भोजन तजै, पीवै प्रासुक नीर।
सो सचित्त त्यागी पुरुष, पंच प्रतिज्ञागीर।।[2]

पांचवी प्रतिमा वाले साधक की आत्मलीनता चौथी प्रतिमा से भी अधिक होती है, अतः आसक्तिभाव भी कम हो जाता है। शरीर की स्थिति के लिए भोजन तो लेने का भाव आता है लेकिन सचित्त भोजन–पान करने का विकल्प नहीं उठता, अतः यह सचित्त भोजन त्याग कर देता है और प्रासुक पानी काम में लेता है। पांचवी प्रतिमाधारक श्रावक की जो

---

१. मोक्षमार्ग प्रकाशक : पण्डित टोडरमलजी, पृष्ठ २३१

२. नाटक समयसार : बनारसीदास, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छंद ६४

आन्तरिक शुद्धि है वह निश्चय प्रतिमा है और मंद कषायरूप शुभ भाव तथा (बाह्य क्रिया) सचित्त भोजन–पान का त्याग व्यवहार प्रतिमा है।

जिसमें उगने की योग्यता हो ऐसे अन्न एवं हरी वनस्पति जिसमें बढ़ने की योग्यता हो उसको सचित्त कहते हैं।[1]

६. दिवामैथुनत्याग प्रतिमा

जो दिन ब्रह्मचर्य व्रत, पालै, तिथि आये निशि दिवस संभालै।
गहि नव वाड़ करै व्रत रक्षा, सो षट् प्रतिमा श्रावक अख्या।।[2]

इस प्रतिमा के योग्य यथोचित शुद्धि वह निश्चिय प्रतिमा है तथा त्यागरूप शुभ भाव वह व्यवहार प्रतिमा है। साधक जीव ने दूसरी प्रतिमा में स्वस्त्री संतोषव्रत तो लिया था लेकिन अब स्वरूप–स्थिरता उसकी अपेक्षा बढ़ जाने से आसक्ति भी घट गई है, अतः छठी प्रतिमाधारी श्रावक नव वाड़ सहित हमेशा दिवस के समय एवं अष्टमी, चतुर्दशी आदि तिथि पर्व के दिन रात में भी ब्रह्मचर्यव्रत को पालता है और ऐसे अशुभ भाव नहीं उठने देने की प्रतिज्ञा करता है। आचार्य समन्तभद्र ने छठी प्रतिमा को रात्रिभुक्ति त्याग प्रतिमा भी कहा है।[3] वैसे तो रात्रि भोजन का साधारण श्रावक को ही त्याग होता है लेकिन इस प्रतिमा में कृत, कारित, अनुमोदना पूर्वक सभी प्रकार के आहारों का त्याग हो जाता है। इसप्रकार इस प्रतिमा में दोनों प्रकार के अशुभ भाव नहीं होते।

---

१. रत्नकरण्ड श्रावकाचार : आ. समन्तभद्र, श्लोक १४१
२. नाटक समयसार : बनारसीदास, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छंद ६५
३. रत्नकरण्ड श्रावकाचार : आ. समन्तभद्र, श्लोक १४२

७. ब्रह्मचर्य प्रतिमा

जो नव वाड़ि सहित विधि साधै, निशदिन ब्रह्मचर्य आराधै।
सो सप्तम प्रतिमाधर ज्ञाता, शील शिरोमणि जगत विख्याता।।[1]

सातवीं प्रतिमाधारी श्रावक को स्वरूपानन्द में विशेष लीनता (शुद्ध परिणति) बढ़ जाने से निर्विकल्प दशा का काल भी बढ़ जाता है एवं जल्दी–जल्दी आने लगती है, फलतः आसक्ति भाव और भी ज्यादा घट जाता है, अतः हमेशा के लिए दिन व रात अर्थात् पूर्ण रूप से नव वाड़[2] सहित ब्रह्मचर्य व्रत पालता है और उपरोक्त प्रकार के भाव नहीं होने देने की प्रतिज्ञा लेता है, अतः उसकी प्रवृत्ति भी तदनुकूल ही होती है। ऐसे श्रावक को शील शिरोमणि कहा जाता है।

८. आरम्भत्याग प्रतिमा

जो विवेक विधि आदरै, करै न पापारम्भ।
सो अष्टम प्रतिमा धनी, कुगति विजय रणथम्भ।।[3]

आठवीं प्रतिमाधारी श्रावक की यथोचित शुद्धि निश्चय प्रतिमा है। संसार, देह, भोगों के प्रति उदासीनता व राग अल्प हो जाने के कारण उठने वाले विकल्प भी मर्यादित हो

---

१. नाटक समयसार : बनारसीदास चतुर्दश गुणास्थानाधिकार, छन्द ६६

२. **नव वाड़** - १. स्त्रियों के समागम में न रहना, २. रागभरी दृष्टि से न देखना ३. परोक्ष में (छुपाकर) संभाषण, पत्राचार आदि न करना, ४. पूर्व में भोगे भोगों का स्मरण नहीं करना, ५. कामोत्पादक गरिष्ठ भोजन नहीं करना, ६. कामोत्पादक श्रृंगार नहीं करना, ७. स्त्रियों के आसन, पलंग आदि पर नहीं सोना, न बैठना, ८. कामोत्पादक कथा, गीत आदि नहीं सुनना, ९. भूख से अधिकभोजन नहीं करना।

३. नाटक समयसार : बनारसीदास, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छन्द ६८

जाते हैं फलतः शुद्धतापूर्वक बाह्यारंभ का त्याग व्यवहार प्रतिमा है। आठवीं प्रतिमाधारी श्रावक स्वरूप–स्थिरतारूप धर्माचरण में विशेष सावधानी रखता हुआ असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि पापारंभ करने के विकल्पों का त्याग कर देने से सभी प्रकार के व्यापार का त्याग कर देता है।

९. परिग्रहत्याग प्रतिमा

जो दशधा परिग्रह को त्यागी, सुख संतोष सहित वैरागी।
समरस संचित किंचित ग्राही, सो श्रावक नौ प्रतिमावाही।।[1]

नवमी प्रतिमाधारी श्रावक की शुद्धि और भी बढ़ जाती है वह निश्चय परिग्रहत्याग प्रतिमा है। उसके साथ ही निर्विकल्पदशा अपेक्षाकृत शीघ्र आने लगती है एवं स्थिरता लीनता भी बढ़ जाती है, फलतः कषाय और भी मंद हो जाने से अति आवश्यक सीमित वस्तुएँ रखकर बाकी सभी (दस) प्रकार के परिग्रह त्याग करने का शुभ भाव तदनुसार बाह्य परिग्रहत्याग, व्यवहार परिग्रहत्याग प्रतिमा है। इस प्रतिमाधारी का जीवन वैराग्यमय, संतोषी एवं साम्यभावधारी हो जाता है।

१०. अनुमतित्याग प्रतिमा

परकौं पापारम्भ को, जो न देइ उपदेश।
सो दशमी प्रतिमाधनी, श्रावक विगत कलेश।।[2]

इस दशवीं प्रतिमाधारी श्रावक की शुद्धि पहले से भी बढ़ गई है, वह शुद्ध परिणति निश्चय प्रतिमा है। उसकी

---

१. नाटक समयसार : बनारसीदास, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छन्द ६६
२. नाटक समयसार : बनारसीदास, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छन्द ७०

सहज (बिना हठ के) उदासीनता अर्थात् राग की मंदता इतनी बढ़ गई होती है कि अपने कुटुम्बी जनों एवं हितैषियों को भी किसी प्रकार के आरम्भ (व्यापार, शादी, विवाह आदि) के सम्बन्ध में सलाह, मशविरा, अनुमति आदि भी नहीं देता है, यह व्यवहार प्रतिमा है। इस श्रावक को उत्तम श्रावक कहा गया है। दशवीं प्रतिमा तक का श्रावक घर में रहकर भी प्रतिमा योग्य धर्माचरण कर सकता है, यह आवश्यक नहीं कि गृहत्याग करना अनविार्य ही हो। अनिवार्य तो प्रतिमा योग्य शुद्धि के साथ व्यवहार का पालना है।

११. उद्दिष्टत्याग प्रतिमा

जो सुछंद वरते तज डेरा, मठ मंडप में करै वसेरा।
उचित आहार उदंड विहारी, सो एकादश प्रतिमाधारी।।[१]

ग्यारहवीं प्रतिमा श्रावक का सर्वोकृष्ट अंतिम दर्जा है। इसकी परिणति में वीतरागता बहुत बढ़ गई होती है। निर्विकल्प दशा भी जल्दी–जल्दी आती है और अधिक काल ठहरती है। अन्तरंग शुद्ध परिणति निश्चय प्रतिमा है, इसके आगे मुनि दशा ही आती है। मुनि दशा अर्थात् प्रत्याख्यानावरणी कषायों के भी अभाव से उत्पन्न प्रचुर वीतराग दशा जिसमें अन्तर्मुहूर्त के अन्दर–अन्दर निर्विकल्प आनन्द का अनुभव आवे और फिर शुभ विकल्प आ जावे तो भी अन्तर्मुहूर्त के अन्दर–अन्दर फिर निर्विकल्प दशा के आनन्दसागर में डुबकी मारता रहे, इसप्रकार मुनि की निर्विकल्प दशा को सप्तम

१. नाटक समयसार : बनारसीदास, चतुर्दश गुणस्थानाधिकार, छंद ७१

गुणस्थान अर्थात् अप्रमत्त गुणस्थान कहा है तथा जब निर्विकल्पता से निकलकर सविकल्पता रूप शुभ भाव में आ जावे, उस तीन कषाय अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान के अभावरूप दशा को षष्टम गुणस्थान अर्थात् प्रमत्त गुणस्थान कहा है। सच्चे भावलिंगी मुनिराज की ऐसी ही दशा निरन्तर बनी रहती है। ऐसी दशा के समीप पहुँचने वाले श्रावक की संसार, देह आदि से उदासीनता इतनी बढ़ गई होती है कि ऐलक दशा में मात्र लंगोटी एवं पीछी–कमण्डलु के सिवाय अन्य कुछ भी रखने का राग नहीं रहता अर्थात् सबका त्याग कर देता है और रहने का स्थान व भोजन आदि मुनि के समान निर्दोष ही ग्रहण करता है अर्थात् नवकोटिपूर्वक उद्दिष्ट आहार[1] व निवास नहीं करता तथा घर कुटुम्ब आदि से अलग होकर स्वच्छन्द विहारी होता है। ऐसी कषायमंदता रूप बहिर्मुख शुभ भाव को व्यवहार प्रतिमा कहा है।

ग्यारह प्रतिमाधारी श्रावक दो प्रकार के होते हैं – क्षुल्लक तथा ऐलक।

इस प्रतिमा की उत्कृष्ट दशा वाले साधक की स्वरूपानुभव की दशा व वीतरागता दशवीं प्रतिमाधारी से तो बढ़ गई है लेकिन क्षुल्लक की दशा ऐलक के बराबर नहीं हुई है। क्षुल्लक को अनासक्ति भाव भी ऐलक के बराबर नहीं हो पाते, अतः उसकी आहार–विहार आदि की क्रियाएँ ऐलक के समान होने पर भी लंगोटी के अलावा ओढ़ने के लिए

१. मुनि, क्षुल्लक व ऐलक के निमित्त बनाई गई वस्तुएँ उद्दिष्ट की श्रेणी में आती हैं। वैसे उद्दिष्ट का शाब्दिक अर्थ उद्देश्य होता है।

खण्ड–वस्त्र तथा पीछी के स्थान पर वस्त्र रखने का एवं केशलोंच के बजाय हजामत बनाने का तथा पात्र में भोजन करने का राग रह जाता है। ऐलक होने पर उसका भी त्याग हो जाता है। यह श्रावक नियम से गृहविरत ही होता है। लेकिन सातवीं प्रतिमा से दशवीं प्रतिमाधारी श्रावक गृहविरत भी होते हैं तथा गृहनिरत भी होते हैं।

जिसप्रकार मुनि को अन्तर्मुहूर्त के अन्दर–अन्दर निर्विकल्प आनन्द का अनुभव तथा निरन्तर वीतरागता वर्तती रहती है वह भावलिंग है और उसके साथ होने वाला २८ मूलगुण आदि का शुभ विकल्प द्रव्यलिंग है और तदनुकूल क्रिया को भी द्रव्यलिंग कहा जाता है, उसीप्रकार पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक को जिसमें प्रतिमा के अनुसार बढ़ता हुआ स्वरूपानन्द का निर्विकल्प अनुभव होता रहता है, ऐसी निरन्तर वर्तती हुई यथोचित वीतरागता वह भाव प्रतिमा अर्थात् निश्चय प्रतिमा है एवं तद्–तद् प्रतिमा के अनुकूल शास्त्र विहित कषाय मंदतारूप भाव द्रव्य प्रतिमा अर्थात् व्यवहार प्रतिमा है। तदनुकूल बाहर की क्रियाओं का व्यवहार प्रतिमा के साथ अनिवार्य निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध होने से उन क्रियाओं को भी व्यवहार प्रतिमा कहा जाता है। जिस जीव को अकेली द्रव्य प्रतिमा हो और उसको वह सच्ची प्रतिमारूप चारित्र दशा मानता हो तो उसको विपरीत मान्यता के कारण मिथ्यात्व का बंध होगा, मिथ्यात्व के बंध के साथ ही कषाय की मंदता के अनुसार पुण्य बन्ध भी होगा, उससे

स्वर्गादिक की प्राप्ति भी होगी, किन्तु वह संसार का अन्त नहीं ला सकता। लेकिन जिसको निश्चय प्रतिमा के अभाव के साथ–साथ शुभभाव रूप व्यवहार का भी अभाव हो और व्यवहार प्रतिमा के नाम से वर्णित बाह्याचरण मात्र ही हो तो उसको तो अशुभभाव के अनुसर अशुभ गतियों का बन्ध भी होता है।

पंचम गुणस्थान में ११ प्रतिमाएँ ग्रहण करने का उपदेश है, सो प्रारंभ से उत्तरोत्तर अंगीकार करना चाहिए। नीचे की प्रतिमाओं की निर्विकल्पदशा रूप अन्तरंग शुद्धि एवं व्यवहार प्रतिमारूप बाह्य शुद्धि, जो ग्रहण की थी वह आगे की प्रतिमाओं में छूटती नहीं है, वृद्धि को ही प्राप्त होती है। पहले से छठवीं प्रतिमा तक धारण करने वाले जघन्यव्रती श्रावक, सातवीं से नौवीं प्रतिमा तक धारण करने वाले मध्यम व्रती श्रावक एवं दशवीं व ग्यारहवीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक कहलाते हैं।

तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी के अभाव में उत्पन्न होने वाली निर्विकल्प दशा में प्रगट आत्मानन्द का अनुभव प्राप्त होकर सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती श्रावक को ही उपरोक्त प्रतिमा योग्य पात्रता प्रारंभ होती है, चतुर्थगुणस्थान सम्यग्दर्शन की प्रगटता का है, यहां तक सम्यक्त्व होते हुये भी पंचम गुणस्थान योग्य चारित्र दशा प्रांरम्भ नहीं हो पाती, फलतः उसे अवृती श्रावक कहा गया है। लेकिन पंचम गुणस्थान तो चारित्र की मुख्यता वाला

गुणस्थान है, इसलिये पहली प्रतिमा में अवृत रहते हुवे स्वरूप स्थिरता की वृद्धि के कारण ही पंचमगुणस्थानवर्ती अवृती श्रावक होते हुवे वृतों के अभाव में भी गुणस्थान पंचम कहा गया है। स्वरूप स्थिरता की तारतम्यता ही प्रतिमाओं के बढ़ने में मुख्य प्रयोजनभूत है।

उपरोक्त प्रकार से व्रती श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप समझकर सभी पात्र जीव सम्यग्दर्शन पूर्वक आत्मशुद्धि बढ़ाते हुये मोक्षमार्ग में उतरोत्तर दक्षता प्राप्त करते हुये संसार का अभाव करें, इसी भावना के साथ विराम लेता हूँ।

– *नेमीचन्द पाटनी*

●●●